अध्याय- 1

प्राचीन भारत के इतिहास में अहिंसा एवं शांति का एतिहासिक परिप्रेक्ष

प्राचीन काल मे भारत के विशाल उप महाद्वीप को भारत वर्ष अर्थात भारतों की भूमि के नाम से जाना जाता था। विष्णु पुराण मे उल्लिखित है कि 'समुद्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में जो भी स्थित है, वह भारत देश है तथा वहाँ की सन्तति भारतीय है। ' इस देश का भारत नामकरण ऋग्वैदिक काल के भरत के नाम पर पड़ा। भारत देश जम्बू द्वीप का दक्षिणी भाग था सिंधु द्वारा सिंचित प्रदेश को इंडिया का नाम सबसे पहले हखमनी इरानियों द्वारा दिया गया परसियों के पवित्र ग्रंथ जिद अवेस्ता मे सरस्वती की सात नदियों के क्षेत्र का उल्लेख है जिसके लिए सप्तसैंधव शब्द का उल्लेख किया गया है जबकि युनानियों ने बाद में यह शब्द इरानियों से उधार लेकर सिंधु नदी को इंडोस के नाम से पुकारा जो चलकर बाद में इंडिया कहलाया। एक प्रदेश के रूप में भारत का प्रथम सुनिश्चित उल्लेख छठी – पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व की पाणिनी की पुस्तक अष्टाध्यायी में मिलता है। तब भारत का नाम का जनपद कांबोज से मगध तक विनिर्दिष्ट 22 जनपदो मे से एक था। बाद मे बौद्ध साहित्य मे प्राचीन सप्तसिन्धु के अनुरूप सात भारत प्रदेशों का उल्लेख है। इतसिंग इतिहासकार ने भारत के लिए आर्य देश और ब्रह्मराष्ट्र जैसे शब्दो का प्रयोग किया है पतंजलि के समय में (150 ईसा पूर्व) आर्यावर्त शब्द का उल्लेख मिलता है पुराणो में भारत शव्द की परिभाषा इस प्रकार की गयी है 'वह देश जो समुद्र (अर्थात हिन्द महासागर)के उत्तर मे और बर्फीले पर्वतों (हिमालय) के दक्षिण मे स्थित है जहाँ पर सात मुख्य पर्वत श्रिंखलाए अर्थात महेंद्र,मलय, सही, सूक्तिमतरिक्षि (गोडवाना के पहाड़) बिनध्य और परियात्रा (अरावली तक पश्चमी बिन्ध्य पर्वत श्रेड़ियाँ) जहाँ पर भरत के बंशज रहते हैं। और जिसके पूर्व मे किरात और पश्चिम मे यवन (आयोनियन अथवा यूनानी) रहते है और इसके अपने

लोग ब्रहमण,क्षत्रीय,वैश्य और शूद्र (अर्थात हिन्दू) हैं। प्राचीन भारत में विभिन्न धर्मों में अहिंसा एवं शांति को संक्षिप्त रूप में परिभाषित एवं उनके विभिन्न उद्धटकों को प्रतिस्थापित किया गया है-

1.1- वैदिक धर्म में अहिंसा एवं शांति का एतिहासिक स्वरूप

1.2 - जैन धर्म में अहिंसा एवं शांति का एतिहासिक स्वरूप

1.3 - बौद्ध धर्म में अहिंसा एवं शांति का एतिहासिक स्वरूप

1.1 - वैदिक धर्म में अहिंसा एवं शांति का एतिहासिक स्वरूप

प्राचीन भारत के इतिहास में जब हम वैदिक शब्द का उच्चारण करते है तो उसका पूरा एक संकल्पना उभेर कर आती है जिसमे वैदिक शब्द वेद से बना है वेद का अर्थ है ज्ञान वैदिक के निर्माता थे आर्य जबकि आर्य संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका तात्पर्य होता है श्रेष्ठ वैदिक यज्ञों में पशुबलि की अनुमति होने के कारण सामान्यत हिंदू धर्म के वैदिक स्वरूप को अहिंसा के संदर्भ में स्मरण नहीं किया जाता और जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म को उसके विरोध में विकसित बताया जाता है। लेकिन इस बात की अनदेखी कर दी जाती है कि मूल भेद दोनों परंपराओं की तत्त्वमीमांसा में है और अपनी नीतिमीमांसा में दोनों ही अहिंसा मार्ग के अनुकरण का आग्रह करती हैं। दुनिया की सभी संस्कृतियों में कुछ आचरणगत खामियां दिखाई जा सकती है क्योंकि मनुष्य कहीं भी पूर्ण नहीं है। प्रत्येक संस्कृति मूल्य-साधना की प्रक्रिया है जिसे उसकी मूल्य-प्रेरणा के संदर्भ में ही समझा जा सकता है क्योंकि इस साधना में उसकी असफलताओं का स्वीकार भी साधना की वांछनीयता को तो संकेतित करता ही है। इस दृष्टि से वैदिक धर्म-दर्शन के केंद्रीय मूल्य के रूप में

अहिंसा स्थापित होती है। ऋग्वेद में दया को प्रमुख कर्त्तव्यों में माना गया है[1]तथा किसी भी व्यक्ति का अनिष्ट करने को पापकर्म[2]बताया गया है। ऋग्वेद में संपूर्ण सहजीवन की जो कल्पना की गई है[3] वह भी मानव-जाति के एकत्व के बोध का संकेत करती है। सामवेद में तो स्पष्टतः हिंसा न करने[4] अथर्ववेद में सबके प्रति मैत्रीभाव रखने[5] तथा पशु-पक्षियों के वध का निषेध करते हुए उनकी सेवा करने की बात कही गई है। ब्राह्मण ग्रंथों में मनुष्यों और मनुष्येतर प्राणियों के प्रति कर्त्तव्यपालन का आग्रह करते हुए पंचऋण की अवधारणा में नृऋण तथा भूतऋण का भी उल्लेख किया गया है। उपनिषदीय दर्शन में तो स्पष्टतः सदाचार विश्लेषण में अहिंसा और दानशीलता को अत्यंत महत्त्व दिया गया है। छांदोग्य और तैत्तिरीय उपनिषद में श्रद्धापूर्वक दान[6] का निर्देश किया गया है।

हिंदू धर्म के पौराणिक रूप में तो अहिंसा को धर्म ही घोषित कर दिया गया है। महाभारत अहिंसा को कहीं परमधर्म तो कहीं सकल धर्म कहता है। शांतिपर्व (अध्याय 162) में सत्य के तेरह रूपों में न केवल अहिंसा की गणना की गई है, बल्कि सभी रूप अहिंसा की ही विविध अभिव्यक्तियां दिखाई पड़ती हैं, जिसका अर्थ है सूक्ष्म स्तर पर अहिंसा और सत्य का एक हो जाना-जैसा हमारे युग में महात्मा गांधी भी मानते हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व में मांसाहार का निषेध करते हुए (अध्याय 115-16) हत्या के लिए पशु लाने, उसे मारने की अनुमति देने तथा मारने, खरीदने, बेचने, पकाने और खाने को पाप का समान भागी बताया गया है। वामन पुराण में निर्देशित दशांग-धर्म में न केवल अहिंसा को सर्वप्रथम रखा गया है-बल्कि अस्तेय, दान, क्षांति,

[1] ऋग्वेद 10: 117
[2] वही 5:855 : 7
[3] वही 10 191 2
[4] साम वेद 1;2:9,2
[5] अथर्ववेद17। 1 -7 ,36 .18
[6] तैत्तिरीय उपनिषद **3: 7 , 1: 11**

दम, शम, अकृपणता आदि भी अहिंसा की ही अभिव्यक्तियां हैं। मत्स्य पुराण में अक्रोध, अलोभ, शम, दम, भूतदया, सुकुमारता, क्षमा और धैर्य [1] को सनातन धर्म का मूल कहा गया है। विष्णु पुराण हिंसा को अधर्म की पत्नी (प्रथम भाग, अध्याय 7) बताता है तो ब्रह्मांड पुराण अहिंसा को धर्म का द्वार कहता है। इसी तरह ब्रह्म पुराण, शिव पुराण, कूर्म्म पुराण, पद्म पुराण, वायु पुराण आदि में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म और सुख कहा गया है। अग्निपुराण में अहिंसा की विस्तृत व्याख्या करते हुए सभी सद्गुणों को उसका ही रूप बताया गया है। पुराणों में केवल निषेधात्मक अहिंसा का निर्देश ही नहीं है, बल्कि जनकल्याण के सभी कार्यों द्वारा अहिंसा के सकारात्मक रूप पर भी आग्रह किया गया है। भागवत पुराण तो यहां तक कह देता है कि मनुष्यों का स्वत्व केवल वहीं तक है जितने से उनका पेट भरता है, जो व्यक्ति उससे अधिक को अपना कहता है, वह चोर है, इसलिए दंडनीय है। [2] वेदनिष्ठ अनुचिंतनात्मक दर्शन-संप्रदायों की नैतिकी में भी अहिंसा को केंद्रीय हैसियत प्राप्त है। न्याय-दर्शन में पृथकत्व के बोध से मुक्ति को परम श्रेय माना गया है क्योंकि सभी पाप-कर्म अपने पृथक् होने के बोध से ही उत्पन्न होते हैं। श्रीधर के न्याय-कंदली में अहिंसा को सभी देशकालों पर लागू होने वाला सनातन कर्तव्य बताया गया है। वैशेषिक दर्शन में भी अहिंसा, सभी की हितचिंता तथा क्रोधवर्जन को अनिवार्य सनातन कर्तव्यों में शामिल किया गया है। सांख्य-दर्शन में भी जीव-हत्या को पाप की जननी माना गया है। मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अहम् भाव है, इसलिए नास्मि (मैं कुछ नहीं). न में (मेरा कुछ नहीं) और नाहम् (अहंभाव का लोप) का बोध मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। योग-दर्शन में नैतिक साधना पर अत्यधिक बल देते हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, जितेंद्रियता तथा अपरिग्रह के पालन का निर्देश दिया गया है तथा अन्य सब गुणों को अहिंसा में ही बद्धमूल माना गया है।

[1] मत्स्य पुराण 140/ 30-32

[2] भागवत पुराण 7.14 – 18

योगभाष्य के अनुसार अहिंसा का तात्पर्य है सभी प्रकार के द्वेषभाव से मुक्त होना। यह वैर तथा क्षति पहुंचाने का अभाव है। शंकराचार्य का अद्वैत वेदांत अहिंसा का आग्रह करते हुए योगभाष्य में उसे योगी का मूल व्रत बताता है। अध्यात्मपटल भाष्य में शंकराचार्य नैतिक गुणों को ज्ञानाभिव्यक्ति के हेतु बताते हैं तथा अक्रोध, अहर्ष, अरोष, अमोह, अदंभ, अद्रोह, त्याग, आर्जव, मार्दव, शम, दम, अविरोध, अक्षुद्रता और आनृशंस्य की गणना योग में करते हैं। ये सब अहिंसा की ही गुणाभिव्यक्तियां हैं। वह अहिंसा की परिभाषा करते हुए उसे सर्वभूतहित का अविरोध कहते हैं-'सर्वभूताविरोधलक्षणा हिंसा'।

जब कि वेदेतर धर्म-दर्शनों में जैन-धर्म तथा बौद्ध धर्म अपनी अहिंसा-निष्ठा के कारण विशेष ध्यानाकर्षण के अधिकारी हैं। जैन-दर्शन के पंचव्रतों में न केवल अहिंसा की गणना की गई है, बल्कि प्रकारांतर से वही अन्य सभी व्रतों का मूल है। जैन-आगम आचारांग-सूत्र में अहिंसा को शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म बताते हुए जीव-मात्र की समता को स्थापित किया गया है तथा निर्देश किया गया है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए तथा उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए[1] महावीर वनस्पति-जगत तक की मनुष्य से समानता को स्थापित करते हुए कहते है : यह मनुष्य शरीर भी जनमता है, यह वनस्पति भी जनमती है। यह मनुष्य शरीर भी बढ़ता है, यह वनस्पति भी बढ़ती है। यह मनुष्य शरीर भी चैतन्ययुक्त है, यह वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है। यह मनुष्य शरीर भी आहार करता है, यह वनस्पति भी आहार करती है। यह मनुष्य शरीर भी अशाश्वत है, यह वनस्पति भी अशाश्वत है। यह मनुष्य शरीर भी उपचित और अपचित होता है, यह वनस्पति भी उपचित और अपचित होती है। यह मनुष्य शरीर भी

[1] जैन आगम 4/ 1-2

विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है, यह वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है [1] यह उल्लेखनीय है कि जैन-नीतिमीमांसा भावहिंसा और द्रव्य हिंसा में भेद करती तथा भाव-हिंसा को द्रव्य हिंसा से भी अधिक हेय बताती है। यह भी ध्यातव्य है कि जैन-विश्लेषण के अनुसार भाव-हिंसा प्रकारांतर से आत्महिंसा भी है। सभी वैष्णव आचार्यों द्वारा स्वीकृत मूल ग्रंथ ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मविद्या का, जिससे कि अविद्या का नाश है एवं जो ब्रह्मनुभव/ब्रह्मज्ञान के स्वरूप है, का विवेचन है, जिसका अनिवार्य अंग शम-दमादि साधनों को माना है। भारतीय दर्शनों में शम, दम, तितिक्षा, अनअंहकारितादि अहिंसा भाव के पर्याय या अहिंसा भाव के जनक माने गए हैं। दूसरे शब्दों में कहे तो हिंसा का मूल ही इंद्रिय एवं मन पर अनियंत्रण है जो राग, द्वेष, मोह एवं अंहकारादि तामसी गुण स्वरूप वाला है। ब्रह्म सूत्रों [2] में सुकृत-दुष्कृत, अशुभ अनिष्टादि, एवं संयम शब्दों का प्रयोग अहिंसा एवं हिंसा के पर्याय के रूप में किया गया प्रतीत होता है। वैष्णव वेदांतों एवं भारतीय दर्शनों में भी प्रायः अहंकार से रहित अवस्था चेतना की उदात्त अवस्था मानी गई है जो शांत, दुःखरहित शाश्वत सुख की अवस्था है। अहिंसा के सकारात्मक एवं नकारात्मक आयामों में से जन सामान्य में अहिंसा का अर्थ उसमें नकारात्मक आयाम हिंसा का अभाव से ही लिया जाता है। वैष्णव वेदांतों में अहिंसा के भावात्मक सकारात्मक पक्ष को ही न केवल प्राथमिकता दी गई वरन् इस संप्रत्यय अहिंसा का विस्तार इष्ट के प्रति की गई भक्ति, सेवा, प्रेम, अहं का विराट में विसर्जन एवं प्राणीमात्र में इष्ट का भाव (सर्वात्मभाव) आदि भावों में किया गया है। इसे न केवल चरम साध्य या चरम साधन का प्रतिफल माना है वरन् मनुष्य का स्वभाव ही माना गया है जो अविद्यादि कारणों से जन्य दूषित आहार यथा हिंसादि से आवरित हो गया है। ऐसे में आत्मा भाववाची या भावप्राधान्य आयाम को लिए है एवं अहिंसा एवं दूसरे पर्याय करुणा,

[1] जैन नीति मीमांसा 1/6/118

[2] ब्रह्म सूत्र 3/1/11-13

प्रेम आदि भी भावप्राधान्य संप्रत्यय है जो वैष्णव दर्शनों के पुरुषार्थ मीमांसा में केंद्रीय स्थान रखते है। यहां अहिंसा मात्र जीव हिंसा (मानसिक, वाचिक, कर्मणय) का अभाव ही नहीं है वरन् बंधुत्व, प्रेम, शांति व करुणा-सौहार्द की अनुभूति है। वैष्णव जन तो तेने कहिए पीर पराई जाणिरे में पराई शब्द में अन्य मनुष्य, पशु व जाति, जलवायु आदि भी सम्मिलित किए जा सकते हैं। सभी वैष्णव आचार्यों के मत में इष्ट (विष्णु/नारायण-/परब्रह्म) के प्रति आसक्ति, व्यसन, अनुरक्ति, निष्काम भक्ति ही अहिंसा के नकारात्मक एवं सकारात्मक आयाम सर्वात्मकता, करुणा, सर्वभूतोहितेरता आदि भावों की जननी है। जहां योग सूत्र संख्या में कही गई स्थितियां वैष्णव आचार्यों/संतों के व्यक्तिगत जीवन में तो सिद्ध/अभिव्यक्त होती ही है, वहीं अहिंसा का प्रयोग सामाजिक अन्याय एवं राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तनों में शांतिप्रिय आंदोलनों के रूप में वैष्णव आचार्यों में कम ही मिलता है।[1]अहिंसा का सार्वजनिक प्रयोग गांधी एवं गांधीवादी विचारकों में स्वतंत्रता संग्राम में स्पष्टतः देखा ही जा सकता है। इन आंदोलनों में प्रतिकार के प्रति अहिंसक वृत्ति बताती है कि अहिंसा निवृत्ति मार्ग नहीं है वरन् कठोर कर्मठता का मार्ग है जो आध्यात्मिक एवं नैतिक बल से युक्त व्यक्ति अर्थात् सम्यक् धार्मिक व्यक्ति ही अपना सकता है। वैष्णव आचार्यों में बौद्धों के करुणा एवं महाकरुणा के अतिरिक्त (संत हृदय नवनीत समाना) प्रेम सेवा एवं (आनंदो ब्रह्म) आनंद की भी प्रधानता है जिसका तत्त्वमीमांसीय आधार परम अभिन्ननिमित्तोदासता में है। इष्ट के प्रति चरम अनुरक्ति, व्यसन एवं प्रियता न केवल शाकाहार एवं पर्यावरण संरक्षण एवं प्रवर्द्धन को सतत आधार प्रदान करती है वरन् वैदिकी यज्ञ की अहिंसात्मक व्याख्या को आधार प्रदान करती है। ब्रह्म-सूत्र में यज्ञ का स्वरूप सूत्र[2] में ब्रह्मविद्या को बताया है जिसमें अग्नि, समिधा, घृत आदि पदार्थों की आवश्यकता नहीं है।

[1] योग सूत्र 5/ 35

[2] योग सूत्र 3/4/25

(खाने की क्रिया के यज्ञ स्वरूप होने से छांदोग्य में अन्न खाना हिंसा नहीं माना गया है। इसी का संकेत गीता में कई स्थलों पर दिया है यथा 4/24 पुरुष सूक्त, ऋग्वेद संहिता, के मंत्र ड्ग/90/6 में सृष्टि में मानस यज्ञ की बात की है जिसमें वसंत ऋतु आज्य के रूप में, ग्रीष्म ऋतु ईंधन के रूप में और शरद ऋतु द्रविस्य के रूप में संकल्पित की गई है। ऋग्वेद के इसी मंत्र का भावार्थ आर्यसमाज भाषा-भाष्य में बताया है। ऋतुओं के ब्रह्मांड में संवत्सर यज्ञ हो रहे हैं। जैसे घी से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार बसंत के बाद ग्रीष्म अधिक तीव्रता पाता है व शरत् फलदायी होने से हावि तुल्य है। भाष्यकार उव्वट ने यज्ञीय हिंसा (यज्ञ में की जाने वाली हिंसा जिसके बारे में यद्यपि यज्ञीय हिंसा न हिंसाभवति कहा है) के विपरीत कहा है : पुरुषमेध यज्ञ पुरुषोत्तम के प्रति पुरुष और उसके सर्वस्व का समर्पण हैं, अतः पुरुषमेध है। कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि यह शरीर ही यज्ञ है और इसमें ज्ञान-कर्म का समुच्चय होता है। ऋग्वेद के मंत्र ड्ग/90/6 को यजुर्वेद (शुक्ल) वाजसनेयी संहिता में अध्याय 31 में मंत्र संख्या 14 में रखा गया है। उव्वट ने इसके भाष्य में कहा है कि जैसे देवताओं ने यज्ञ किया, वैसे ही योगी भी अमृत स्वरूप उद्दीप्त इस आत्मपुरुष के द्वारा ही आत्म-यज्ञ संपादन करते हैं। इनमें वसंत सात्विकगुण है, ग्रीष्म राजस और शरद् तामसीय गुण। योगी इन्हीं तीन गुणों का आत्म-यज्ञ में हवन करते है। इसी को गीता में निस्त्रैगुण्यता की बात एवं सांख्य योग में त्रिगुणातीत पुरुष की अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में अवस्थिति के रूप में बताया है। भक्ति में इस यज्ञ को भगवत कथा श्रवण एवं नाम संकीर्तन यज्ञ के रूप में बताया है जहां कीर्तन यज्ञ, सार्ववर्णिक, सार्वकालिक होने के साथ-साथ सर्वाधिक अहिंसात्मक रूप लिए है एवं वैष्णव आचार्यों में मनुष्य के मूल स्वभाव की प्राप्ति का सरल उपाय है। निम्न स्तर पर यह शमादि को प्राप्त करने का साधन है ही जो समाज की राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान है। वैष्णव वेदांत का आधारभूत सिद्धांत ईश्वर की भक्ति है। भक्ति ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम है। ईश्वर सब प्राणियों में, चराचर में अंतर्यामी रूप से विद्यमान है।

जगत ईश्वर की ही सृष्टि है। ईश्वर ही जगत का निमित्तोपादान कारण है। विश्व के कण-कण में ईश्वर की छवि के दर्शन करने वाला वैष्णव भक्त सबसे अहेतुक प्रेम करता है। प्रेम हिंसा का प्रतिपक्ष है। प्रेम के मनोभाव में हिंसा संभव नहीं। घृणा, क्रोध, द्वेष, अभिमान आदि हिंसा की पूर्वपीठिका है अथवा ये सब स्वयं हिंसक मनोभाव है। प्रेम में समर्पण है। समर्पण में अभिमान, क्रोध आदि हिंसक वृत्तियों का विगलन होता है। वैष्णव वेदांत संप्रदायों में सबकी तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में कुछ-कुछ भिन्नता होते हुए भी भक्ति को मुक्ति का प्रमुख साधन स्वीकार करने में इनमें मतैक्य है। वैष्णव वेदांत में अहिंसा पर विचार करते समय इनके तत्त्वमीमांसीय आग्रहों का गौण रूप से और सगुणोपासना की आधारशिला भक्ति का प्रमुखतः विवेचन अपेक्षित है। वैष्णव वेदांती भक्ति को प्रायः ईश्वर प्राप्ति के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, परंतु वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग भक्ति को फलरूपा अथवा साध्य रूप में स्वीकार करते हैं। श्रीमद्भागवतगीता, नारद-भक्ति सूत्र, शांडिल्य-भक्तिसूत्र, दक्षिण के आलवार संतों का तमिल भाषा में लिखा चार हजार पदों का संग्रह प्रबंधम् और पांचरात्र वैष्णवी भक्ति के प्रमुख स्रोत रहे हैं। रात्र का अर्थ ज्ञान है। परम तत्त्व, मुक्ति, भुक्ति योग और विषय (जगत) इन पांच विषयों का निरुपण करने के कारण इन्हें पांचरात्र कहते हैं। पांचरात्र के आराध्य देव नारायण है। नारायण ईश्वर है जो दयालु, कृपालु, करुणानिधान और भक्तों पर अनुग्रह करते हैं। यह भक्तिमार्ग का वैशिष्ट्य है कि ईश्वर में अगाध श्रद्धा रखने वाला कोई भी स्त्री-पुरुष भक्ति का अधिकारी हो सकता है। वर्गभेद, जातिभेद, लिंगभेद के लिए भक्ति में काई स्थान नहीं है। आलवार संतों में एक स्त्री और कुछ निम्न समझी जाने वाली जाति के थे और ये सभी संत समाज में समान रूप से पूज्य रहे हैं। ईश्वर की शरणागति ग्रहण करने वाले प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए भक्ति के द्वार खुले हैं। भक्ति सामाजिक समरसता, सौहार्द और सद्भाव का आधार है। भक्ति ईश्वर के प्रति भक्त का निःस्वार्थ और कामना रहित प्रेम है। यह जगत ईश्वर की रचना है। ईश्वर सब प्राणियों में अंतर्यामी रूप से विद्यमान है। प्राणिमात्र से

प्रेम करना वस्तुतः ईश्वर से प्रेम करना ही है। किसी भी व्यक्ति से द्वेष करना, उसका अपमान करना अथवा उसे कष्ट देने का अर्थ है ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल आचरण करना, ईश्वर को रुष्ट करना और कोई भी भक्त अपने आराध्य को कभी रुष्ट करना नहीं चाहेगा। लौकिक प्रेम में भी कोई भी सच्चा प्रेमी अपने साथी के प्रतिकूल व्यवहार नहीं करना चाहता, भक्ति तो दिव्य और परम उदात्त प्रेम है। प्रेम और हिंसा में परस्पर आत्यंतिक विरोध है। जहां प्रेम है वहां हिंसा नहीं पनप सकती और जहां हिंसा है वहां प्रेम नहीं रह सकता। इसलिए ईश्वर के सच्चे भक्त कभी हिंसक हो ही नहीं सकते। प्रेम एक सकारात्मक मनोभाव है। व्यक्ति जिससे प्रेम करता है उसकी सुख-सुविधा और प्रसन्नता के लिए वह हर प्रकार के त्याग के लिए स्वयं कष्ट उठाने के लिए तत्पर रहता है। इस भय से कि ईश्वर कहीं रुष्ट न हो जाए भक्त हिंसा, द्वैष आदि नकारात्मक भावों से दूर रहने की चेष्टा करता है।

नारद-भक्ति सूत्र में कहा गया है वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा है (सा त्वस्मिन् परमप्रेरूपा।। 2।।) शांडिल्य-भक्ति सूत्र में भी भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुराग बतलाया है (सा परानु रत्किरीश्वरे।। 2।।)। प्रेमाभक्ति वेदोक्त विधि-निषेधात्मक अनुष्ठानों को नहीं मानती। प्रेमाभक्ति (पराभक्ति) में भक्त ईश्वर को सर्वस्व मानकर अपने श्वासोच्छवास में उसका निरंतर स्मरण करते हुए भाव विह्वल हो उठता है। प्रेमी भक्त ईश्वरीय प्रेम को पाकर सर्वत्र प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिंतन करता है, ऐसी प्रेमाभक्ति के उदय होने पर विधि-निषेधपरक ज्ञान का क्षय हो जाता है (तयोपक्षयाच्च-शांडिल्य-भक्तिसूत्र 5) कुछ विद्वानों ने भक्ति को ज्ञानपरक बताया है। शांडिल्य ने इसी बात का विरोध करते हुए ज्ञान को भक्ति का विरोधी कहा है। यथार्थ में ज्ञान और भक्ति विरोधी नहीं है। वैष्णव वेदांत में ज्ञान को साधन और भक्ति को साध्य अथवा फल माना है। ज्ञान और सत्कर्म से चित्त शुद्ध

होता है। शुद्ध चित्त में ईश्वर के प्रति प्रेम का उदय होता है। शांडिल्य सूत्र में ही आगे कहा गया है कि वह भक्ति ही मुख्य है; क्योंकि ज्ञान योगादि इतर साधन उसकी अपेक्षा रखते हैं। ज्ञानादि साधन अंग है और भक्ति अंगी है (सा मुख्येतरापेक्षितत्वात्-शांडिल्य-भक्ति सूत्र 10)। सदाचार को प्रेमाभक्ति अथवा परभक्ति का साधन बतलाया है। विषय भोगों में तल्लीन व्यक्ति राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह जैसे विपरीत आचरण से स्वयं को नहीं बचा पाता। यह विपरीत आचरण चित्त को मलिन बनाता है। मलिन अंतःकरण में कंचन-कामिनी के प्रति ही आसक्ति दृढ़ होती है, ईश्वर के प्रति प्रेम नहीं। ईश्वरानुराग तो शुद्ध अंतःकरण में ही उदित होता है। शुद्धांतःकरण के लिए सदाचार की अनिवार्यता को सभी संप्रदाय एकमत से स्वीकार करते हैं। नारद-भक्ति सूत्र अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता के पालन पर बल देता है (अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयानि-नारद-भक्ति सूत्र-79) अहिंसा [1]और सत्य प्रमुख सद्गुण है। अहिंसा और सत्य के पालन से अन्य सद्गुणों का पालन स्वतः ही हो जाता है। जहां अहिंसा और सत्य है वहां दया, अचौर्य, ब्रह्मचर्य का पालन अपने आप हो जाता है। अहिंसा और प्रेम में परस्पर सद्भाव है। सकारात्मक अहिंसा को प्रेम कह सकते हैं। प्राणियों के प्रति प्रेम भाव ही हमें उनके प्रति अहिसंक बनाता है। प्रेम राग का उदात्तीकरण है। राग में स्वार्थ निहित होने से संकुचित होता है; फलतः राग-द्वेष को जन्म देता है। निःस्वार्थ प्रेम सार्वजनिन स्वरूप का होता है। वैष्णवों का ईश्वरीय प्रेम नारायण, कृष्ण अथवा विष्णु के विग्रह तक सीमित नहीं है। यह अवश्य है कि अर्चावतार के रूप में वैष्णव प्रतिमा में ईश्वर को विद्यमान मानते हैं, परंतु साथ ही ईश्वर के सर्वव्यापी होने के कारण वे समस्त प्राणियों में दिव्यत्व का दर्शन भी करते हैं। यह सार्वभौम दिव्यत्व ही वैष्णवों के प्रेम का आधार है। इस दिव्य प्रेम की भाव-भूमि में अहिंसा पल्लवित और पुष्पित होती है। जो समस्त प्राणियों के प्रति निर्वैर है, जिसके मन में किसी के प्रति शत्रु भाव नहीं

[1] नारद भक्ति सूत्र 79

है, वही व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त करने योग्य है (निर्वैर : सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव-गीता ङ्गढ्ढ-55) जो समस्त भूतों के प्रति द्वेष रहित है और उनके प्रति करुणा और मैत्री भाव रखने वाला है, वह ईश्वर को अति प्रिय है । (अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च गीता-ङ्गढ्ढढ्ढ-13) ईश्वरानुराग में लीन भक्त का यह उदात्त आदर्श समस्त वैष्णव वेदांतियों को स्वीकार्य है । कर्मकांडी पुरोहित वर्ग द्वारा ईश्वर के लिए बंद किए द्वार वैष्णवी भक्ति ने समाज के सब वर्गों के लिए खोल दिए । विधि-निषेध और विधि-विधान से उपजे लैंगिक, जातिगत, वर्गगत आदि । समस्त भेदभाव प्रेमाभक्ति के प्रभाव के आगे धराशायी हो गए । प्रेम की उर्वरा भाव-भूमि में तो सद्भाव और समरसता का उपवन ही महक सकता है, भेदभाव और छुआछूत के दलदल को पनपने का वहां कोई अवसर नहीं । प्रेमाभक्ति ने भेदभाव, आडंबर और रूढ़ियों से रहित स्वस्थ सामाजिक-समरसता की संभावना के बीज बोकर भारतीय संस्कृति की उदारता में श्रीवृद्धि की । वैष्णव भक्तों ने यह सिद्ध कर दिया कि प्रेम ज्ञान से श्रेष्ठ है । प्रेम पर आधारित समाज में हिंसा, द्वेष, विषमता, आडंबर आदि को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता । नारद और शांडिल्य दोनों ही भक्ति में सामाजिक वैषम्य को स्पष्ट रूपेण नकारते हैं । नारद स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उनमें (भक्तों में) जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का भेद नहीं है; क्योंकि (सारे भक्त) उनके (भगवान के) ही हैं (नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः । । 72 । । यतस्तदीयाः । । 73 । ।) शांडिल्य के अनुसार जिस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सामान्य धर्मों के ज्ञान और अनुष्ठान (पालन) में सबका समान अधिकार है, ठीक उसी प्रकार भक्ति में भी उच्च जाति से लेकर चाडांलादि निम्न जाति तक के सभी मनुष्यों का समान रूप से अधिकार है (आनिंद्ययोन्यधिक्रियते पारंपर्यात् सामान्यवत्-शांडिल्य-भक्ति सूत्र-78)[1] कर्मकांडी पुरोहित वर्ग ने वैदिकी ज्ञान में स्त्रियों और निम्न समझी जाने वाली जातियों की भागीदारी को स्वीकार नहीं किया

[1] शाण्डिल्य भक्ति सूत्र 78

था इसी संदर्भ में गीता ईश्वर की भक्ति में सबके समान अधिकार का समर्थन करती है। स्त्रियां, वैश्य अथवा शूद्र, यहां तक कि महापापी भी, जो भी ईश्वर की शरण में जाता है वह परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है (मां हि णर्थ व्यापाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोन्यः। स्त्रियो वैश्यस्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्।। ढ्ढड्ग-32)

भक्ति को सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करने में वैष्णव वेदांताचार्य रामानुज और वल्लभाचार्य की प्रमुख भूमिका रही है। रामानुज मुख्य भक्ति की पूर्वपीठिका के रूप में चित्त शुद्धि के उपाय बतलाते हैं जो इस प्रकार है-विवेक, विमोक (विषयों से विमुख होना और ईश्वर के प्रति लगन) अभ्यास (ईश्वर का सतत स्मरण). क्रिया (परहितार्थ किए जाने वाले कर्म). कल्याण (सब प्राणियों के लिए शुभाकांक्षा). सत्य, आर्जव (सरलता). दया, अहिंसा, दान, अनवसाद (सर्वदर्शन संग्रह ढ्ढड्क) यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुख्य भक्ति की उपर्युक्त पूर्वपीठिका के क्रिया (परहितार्थ कृत्य कर्म). कल्याण (समस्त प्राणियों के प्रति शुभाकांक्षा) दया (प्राणियों के प्रति मृदुता का भाव). अहिंसा (किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुंचाना) दान (परार्थ तन, मन, धन का त्याग) ये अंग व्यक्ति की आत्मकेंद्रित (व्यष्टि) चेतना को सामाजिक (समष्टि) चेतना में विकसित करते हैं। भक्ति के इस पूर्वाभ्यास से व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ से परे जाकर लोक-कल्याण के लिए चिंतन, मनन और कर्म करता है। लोक-कल्याण त्याग, प्रेम, सद्भाव, सौहार्द, सहयोग, अहिंसा जैसे सामाजिक सद्गुणों के बिना संभव नहीं। इस रूप में भक्ति व्यक्ति को एक सहृदय सामाजिक-आध्यात्मिक मनुष्य में (Compassionate socio-spiritual man) रुपांतरित करती है, जिसका जीना अपने लिए न होकर दूसरों के लिए होता है। ईश्वर में आस्था रखने और सब में ईश्वर की उपस्थिति देखने के कारण भक्त कोरा सामाजिक ही न होकर आध्यात्मिक भी होता है। सच्चा ईश्वरानुराग अहिंसा ओर प्रेम का सुदृढ़ आधार सिद्ध होता है।

उपर्युक्त वैधी भक्ति से प्रपत्ति अर्थात् शरणागति उपजती है। शरणागति ही मुख्य या पराभक्ति है। रामानुज इस पराभक्ति को ही ज्ञान कहते हैं क्योंकि पराभक्ति से ही ईश्वर का साक्षात् अंतर्ज्ञान होता है। अतः पराभक्ति (शरणागति) ज्ञान ही है। ईश्वर के प्रति अपनी निजता का पूर्ण समर्पण शरणागति है। ईश्वर की शरणागति ग्रहण करने वाला प्रसाद अर्थात् ईश्वर की अनुकंपा को प्राप्त करता है। अहिंसा, करुणा, प्रेम आदि सभी निःस्वार्थ भाव से परहितार्थ किए जाने वाले शुभ कर्म ईश्वर के अनुकूल अर्थात् उसे प्रसन्न करने वाले कर्म है। हिंसा, काम, क्रोध, द्वेष आदि अशुभ कर्म ईश्वर के प्रतिकूल है। सभी वैष्णवाचार्य इस बात में एकमत है कि भक्ति ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम है। जगत ईश्वर की सृष्टि है तथा वह सबमें अंतर्यामी रूप से विद्यमान है। ईश्वर में अनुराग रखने वाला भक्त सब जीवों से प्रेम करता है और निःस्वार्थ भाव से लोकहितार्थ कर्म करना अपना धर्म समझता है। क्योंकि वह जानता है कि परोपकार, लोक-कल्याण, सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि शुभकर्म ईश्वर के अनुकूल है। क्रोध, कपट, हिंसा, असत्य आदि ईश्वर के प्रतिकूल है। अतः ईश्वरानुराग के रूप में भक्ति अहिंसा का आध्यात्मिक आधार है। भारतीय दर्शन परंपरा में शैव दर्शन प्राचीनतम परंपरा से मान्य है। इतिहास में जो संकेत प्राप्त होते हैं, वे दर्शाते हैं कि शिव एवं शक्ति का विचार मोहनजोदड़ो और उसके पश्चात् वैदिक संस्कृति में रूद्र और शिव नाम से उल्लेखित शिव को ही शंकर, शंभव एवं मयोभव कहकर उपासना की गई है। रूद्र (गिनती में ग्यारह) का शाब्दिक अर्थ भयानक, भयंकर या डरावना है। ये रूद्र शिव के ही अपकृष्ट रूप हैं। शिव का शाब्दिक अर्थ है शुभ, मांगलिक या कल्याणकारी। इसी प्रकार शिव का अर्थ आनंद के अर्थ में भी ग्रहण किया जाता है। पौराणिक दृष्टि से तीन प्रधान देवताओं में शिव तीसरे देवता या महादेव हैं, जिनका कार्य संहार करना है। वैदिक एवं औपनिषदिक परंपरा में शिव का अर्थ कल्याणकारी के रूप में ही प्रमुखता से लिया गया है। उदाहरण के लिए शातं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यते स आत्मा विज्ञेय तथा शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार-वह कल्याणकारी, अद्वितीय, ओंकार,

आत्मा और जानने योग्य है। इसी प्रकार श्वेताश्वर उपनिषद में सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः मंत्र में शिव को भगवान, समस्त प्राणियों के हृदय में निवास करने वाला सर्वव्यापी और सर्वगत कहा गया है? शिव को महेश्वर भी कहा गया है।

वैदिक काल के तदंतर भारतीय संस्कृति में दो महान धाराओं का प्रवाह हुआ, जिसे शैव एवं श्रमण संस्कृतियों के नाम से जाना जाता है। दोनों ही संस्कृतियां मूलतः आध्यात्मिक जीवन और आत्मा को या स्वयं को जानने को जीवन का लक्ष्य बनाती है। शैव दर्शन का मूल स्रोत शैव आगम हैं, वहीं श्रमण संस्कृति के मूल स्रोत जैन आगम है। लेकिन कालांतर में शैव आगमों का लोप हो गया और आज जो 28 शैव आगम प्राप्त हैं वे मौलिक रूप से बहुत बाद के हैं। वैदिक संस्कृति के पश्चात् शैव संस्कृति एवं दर्शन का स्वरूपशिव पुराण, महाभारत एवं अन्य पौराणिक आख्यानों में प्राप्त होता है। अतः, शैव दर्शन का सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक आधार पौराणिक और महाभारत में वर्णित शैव दर्शन ही है। इसके पश्चात् शैव दर्शन का विकास वस्तुतः वेदांत के विस्तार का सूचक है। शैव दर्शन की तत्त्वमीमांसा शिव तत्त्व के अद्वैत को स्वीकार करती है, तथा संपूर्ण संसार को उसी शिव का वास्तविक सविशेष स्वरूप मानती है, जिसके अनुसार माया को शिव की सृष्टि के उपादान कारण तथा शक्ति को निमित्तकारण तथा स्वयं शिव को मूल कारण के रूप में ग्रहण किया गया है। सर्वदर्शन संग्रह में शैव सिद्धांत के विषय में दो मतों का वर्णन है, एक आगमिक तथा दो पाशुपत। आगमिक मत को मानने वाले संप्रदाय हैं, शैव सिद्धांत, वीर शैव, नयनार, प्रत्यभिज्ञा तथा पाशुपत मत को मानने वाले पाशुपत, नकुलीश, कापालिक एवं रसेश्वर हैं। वायवीय संहिता के अध्याय 31/173 में महाव्रतधारी संप्रदाय का भी उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य संप्रदाय एवं भेद प्रभेद भी हैं, किंतु मूल रूप से सभी शैव दर्शन पशु, पाश एवं पति के ज्ञान द्वारा बोध या आत्मबोध या मुक्ति को स्वीकार करते हैं। सभी यह स्वीकार करते हैं कि पशु-

आत्मा, पाश-प्रकृति है तथा पति शिव हैं। अतः सभी जीवों का परमलक्ष्य शिव की प्राप्ति है। उसका मार्ग है ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति, शुद्धि, जप, ध्यान, प्रपत्ति आदि। योग का प्रवर्तन भी शिव द्वारा माना गया है।

जहां तक अहिंसा का प्रश्न हैं, संपूर्ण भारतीय दर्शन में जो स्थान अहिंसा को प्राप्त है वह सर्वविदित है; किंतु शैव दर्शन में इसका मौलिक प्रतिपादन हुआ है, यह तथ्य जानने योग्य है। महाभारत के शांतिपर्व में नैतिक विवेक के विषय में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मा द्वारा विवेक का प्रकाशन सर्वप्रथम भगवान शिवको हुआ था। उस समय तक न तो राज्य, न संप्रभुता, न राजा, न दंड और न दंड देने वाला था। सभी लोग धर्म पूर्वक एक दूसरे की परस्पर रक्षा करते थे, लेकिन काल के प्रभाव में जब मनुष्यों के हृदय मलिन होने लगे तब मनुष्य का विवेक खोने लगा, सद्गुणों का क्षय होने लगा। विवेक की हानि से मनुष्य लोभ, लालसा और वासनाओं का दास बन गया। भक्ष्य-अभक्ष्य, गुण-अवगुण, शुचिता-अशुचिता आदि का विचार करना उसने बंद कर दिया। तब ब्रह्मा ने शिव को दस लाख अध्यायों में नैतिक विवेक का विवरण दिया ताकि सृष्टि की रक्षा हो। शिव ने इन दस लाख अध्यायों को सृष्टि की रक्षा के लिए सरल, संक्षिप्त एवं सुगम बनाकर पुनः प्रतिपादित किया यह संक्षिप्त दस हजार अध्यायों का स्वरूप वैशालाक्ष कहलाया । बाद में वैशालाक्ष को शुक्राचार्य ने पुनः संक्षिप्त कर एक हजार अध्याय में संपादित किया और यह वैशालाक्ष सनातन मतावलंबी या शैव अथवा वैष्णव मतावलंबियों के लिए ही नहीं अपितु सभी भारतीय नीतिकारों और नीति दर्शनों के लिए आधारभूत एवं अंतिम स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ ऐसी मान्यता है। वैशालाक्ष का मूल तत्त्व समता, निष्कामता, अक्रोध, निर्लोभिता एवं निर्हंकारता को धारण करना है। शैव दर्शन के अनुसार अनेकों बार, अनेकों द्वारा, अनेक-अनेक महान विवेकी पुरुषों द्वारा बार-बार धर्म के सार को कहा और सुना गया है। भगवान शिव कहते

हैं अहिंसा परमो धर्मो/अहिंसा परमं सुखम्। अहिंसा धर्मशास्त्रेषु/सर्वेषु परमं पदम्।। (अनुशासन पर्व, 145)इस प्रकार अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम सुख है, अहिंसा सभी धर्मशास्त्रियों में परम पद है। भगवान शिव कहते हैं कोई भी धर्म वाणी की सत्यनिष्ठा से श्रेष्ठ नहीं है और असत्य से बड़ा कोई पातक नहीं। इसी प्रकार शिवसंहिता के प्रथम अध्याय में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को सभी मनुष्यों के लिए कर्त्तव्य कहा गया है। ये पांच व्रत सार्वभौमिक नैतिकता का प्रथम सूत्र हैं। वस्तुतः, सभी सद्गुण, सभी नैतिक कर्म, सभी व्रत, सभी कर्त्तव्य आदि अहिंसा के द्वारा ही प्रतिष्ठित है। अहिंसा के द्वारा ही पूर्ण एवं योग्य है। शैव दर्शन स्पष्ट रूप से दो परम पदों में जीवन के परम मूल्य को संश्लेषित करता है-एक अहिंसा जो अकर्मक मूल्य है और दूसरा सत्यनिष्ठा जो सकर्मक मूल्य है। ये दोनों मूल्य जब एक होकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तो मनुष्य पुरुषार्थ के अर्थ को प्रकट कर जीवन को सार्थक कर पाता है।

अतः, मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह मन, वचन और कर्म से सजीव एवं निर्जीव सबके प्रति पूर्ण अहिंसा का पालन करे। अहिंसा के सद्गुणों की प्रतिष्ठा, सद्गुणों के लिए ज्ञान की प्रतिष्ठा, ज्ञान के लिए सत्य एवं न्याय की प्रतिष्ठा होती है, जिससे योग्यता और दक्षता उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप, जीवन का प्रयोजन स्थापित होता है, विवेक जाग्रत होता है, सद्गुणों से साक्षात्कार होता है, जीवन का सत्य प्रकट होता है। जब जीवन का सत्य जाना और जिया जाने लगता है, तब मनुष्य की संपूर्ण शूद्रता एवं क्षुद्रता तिरोहित हो जाती है। वह पूर्णता में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर वह सभी प्रकार से अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाता है, वहां सारे मल, अहंकार, क्रोध, हिंसा, लोभ, मोह, वासना आदि भस्म हो जाते हैं। अतः अहिंसा ही परम पद है, परम धर्म है, परम गति है। शैव दर्शन के अनुसार जिस-जिस ओर से भारी हिंसा की संभावना हो, उससे तथा मद्य और मांस से मनुष्य को निवृत हो जाना चाहिए। इससे हिंसा की संभावना बहुत कम हो जाती है।

अतः, शैव दर्शन में अहिंसक-मन, अहिंसक-वचन, अहिंसक-कर्म, अहिंसक-आहार चर्या को हिंसा निषेध के लिए आवश्यक माना है। यह तथ्य सभी प्रकार से हिंसा की निवृत्ति के आदर्श को मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक कर्त्तव्य एवं धर्म के रूप में प्रतिपादित करता है। शैव दर्शन में आगे जाकर कुछ और संप्रदायों का विकास हुआ उनमें वाममार्ग, भैरव तंत्र आदि हैं। लेकिन वहां भी हिंसा का समर्थन नहीं है। पंच मकार में जहां मांस-मछली के भक्षण की चर्चा होती है, वह शास्त्र विरुद्ध होने पर उन संप्रदायों में वही मांस-मछली आदि खाने को कहा गया है, जो स्वतः मृत्यु को प्राप्त हुई है। यदि अहिंसा परम धर्म है तो वह सभी प्रकार से वरणीय है, आचरण योग्य, रक्षण योग्य है। यहां तक राजा जब युद्ध करता है, तो उसका मुख्य प्रयोजन प्रतिपक्षी की हिंसा को बलपूर्वक रोकना है न कि हिंसा के लिए युद्ध करना। महाभारत में पार्वती के पूछे जाने पर महेश्वर स्पष्ट करते हैं कि प्रजा के हित के लिए समस्त विरोधियों को अनुनय विनय के द्वारा अनुकूल बना लें। राजा को चाहिए कि कुशल शासन, उत्तमनीति, धर्मपूर्वक प्रजाजनों का इस प्रकार पालन करे कि प्रायः युद्ध न करना पड़े। संधि, विग्रह तथा अन्य नीतियों का विवेकपूर्वक भलीभांति विचार कर सभी को परस्पर भय मुक्त कर सभी को सुरक्षित रखने का उपाय निरंतर करे। सामूहिक एवं संगठित जीवन चर्या के लिए मनुष्य इसी उद्देश्य से समाज और राज्य की रचना के लिए तत्पर होता है, क्योंकि अंततः, सभी अहिंसा चाहते हैं, शांति चाहते हैं, सुख चाहते हैं। शैव दर्शन के अनुसार यह अहिंसा ही परम सुख, परम शांति और परमलाभ है। अतः अहिंसा से ही अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, हिंसा से नहीं। हिंसा परम अशांति, परमदुख और परम पाप का मूल है। हिंसा से निवृत्ति ही मनुष्य के समस्त पुरुषार्थों की पूर्ति और जीवन के पूर्णता का मूल मंत्र है। इसीलिए भगवान शिव ने अहिंसा परमो धर्म:कहा है। यही शैव दर्शन के आचार एवं नीति की आत्मा है।

1.2 - जैन धर्म में अहिंसा एवं शांति का एतिहासिक स्वरूप

ईसा पूर्व छठी शदी के उतरार्ध में मध्यगंगा के मैदान मे अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ बौद्ध ग्रंथ ब्रहांजाल सूत्र मे इनकी संख्या 62 तथा जैन ग्रंथ सूत्रकृतांग में 368 बताया गया है उस समय हिंसा के विरोध मे कुछ धर्मो मे बल दिया गया जिनमे से जैन धर्म भारत की श्रमण परम्परा से निकला धर्म और दर्शन है। जो 'जिन' के अनुयायी हों उन्हें 'जैन' कहते हैं। 'जिन' शब्द बना है 'जि' धातु से। 'जि' माने-जीतना। 'जिन' माने जीतने वाला। जिन्होंने अपने मन को जीत लिया अपनी वाणी को जीत लिया और अपनी काया को जीत लिया, वे हैं 'जिन'। जैन धर्म अर्थात 'जिन' भगवान् का धर्म। जैन धर्म में संसार मूलक माना गया है यहाँ एक बात रखनी अवश्यक है कि 23वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ महावीर से लगभग 250 वर्ष पूर्व थे। वे अपने अनुयाइयों को चातुर्याम शिक्षा या चार आचरण पालन करने पर बल दिया जो निम्न लिखित है

- सत्य (सदा सत्य बोलना)
- अहिंसा (प्राणियों कि हिंसा न करना)
- अस्तेय (चोरी न करना)
- अपरिग्रह (सम्पति न रखना)

जैन धर्म का परम पवित्र और अनादि मूलमंत्र है-

णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं॥

अर्थात अरिहंतो को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, सर्व साधुओं को नमस्कार। ये पाँच परमेष्ठी हैं।

जैन दृष्टि से सब जीवों के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार अहिंसा है। अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है, हिंसा न करना । इसके पारिभाषिक अर्थ विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों हैं । रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राणवध न करना या प्रवृत्ति मात्र का विरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है। सत्प्रवृत्ति, स्वाध्याय, अध्यात्मसेव, उपदेश, ज्ञानचर्चा आदि आत्महितकारी व्यवहार विध्यात्मक अहिंसा है । संयमी के द्वारा भी निम्न कोटि का प्राणवध हो जाता है वह भी निषेधात्मक अहिंसा हिंसा नहीं है । निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है विध्यात्मक अहिंसा में सत्क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टि का निर्णय है। गहराई में पहुँचने पर तथ्य कुछ और मिलता है । निषेध में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निषेध होता ही है । निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता है। हिंसा न करने वाला यदि आँतरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा न होगी । इसलिए निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है वह बाह्य हो चाहे आँतरिक स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नहीं हो सकती यह निश्चय दृष्टि की बात है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है । जैन ग्रंथ आचारांगसूत्र में जिसका समय संभवत: तीसरी चौथी शताब्दी ई. पू. है अहिंसा का उपदेश इस प्रकार दिया गया है भूत, भावी और वर्तमान के अर्हत् यही कहते हैं-किसी भी जीवित प्राणी को, किसी भी जंतु को, किसी भी वस्तु को जिसमें आत्मा है, न मारो, न (उससे) अनुचित व्यवहार करो, न अपमानित करो, न कष्ट दो और न सताओ। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये सब अलग जीव हैं। पृथ्वी आदि हर एक में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग-अलग जीव हैं । उपर्युक्त स्थावर जीवों के उपरांत जंगम प्राणी हैं, जिनमें चलने फिरने का सामर्थ्य होता है। ये ही जीवों के छह वर्ग हैं। इनके सिवाय दुनिया में और जीव नहीं हैं। जगत् में कोई जीव जंगम है और

कोई जीव स्थावर। एक पर्याय में होना या दूसरी में होना कर्मों की विचित्रता है। अपनी-अपनी कमाई है जिससे जीव अन्न या स्थावर होते हैं। एक ही जीव जो एक जन्म में अन्न होता है दूसरे जन्म में स्थावर हो सकता है। न्नस हो या स्थावर, सब जीवों को दु:ख अप्रिय होता है। यह समझकर मुमुक्षु सब जीवों के प्रति अहिंसा भाव रखे। सब जीव जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए निर्ग्रंथ प्राणिवध का वर्जन करते हैं। सभी प्राणियों को अपनी आयु प्रिय है सुख अनुकूल है दु:ख प्रतिकूल है। जो व्यक्ति हरी वनस्पति का छेदन करता है वह अपनी आत्मा को दंड देनेवाला है। वह दूसरे प्राणियों का हनन करके परमार्थत: अपनी आत्मा का ही हनन करता है। आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है। इसका समर्थन करते हुए आचार्य अमृतचंद्र ने लिखा है असत्य आदि सभी विकार आत्मपरिणति को बिगाड़ने वाले हैं, इसलिए वे सब भी हिंसा हैं। असत्य आदि जो दोष बतलाए गए हैं वे केवल "शिष्याबोधाय" हैं। संक्षेप में रागद्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा और उनका प्रादुर्भाव हिंसा है। रागद्वेषरहित प्रवृत्ति से अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाए तो भी नैश्चयिक हिंसा नहीं होती, रागद्वेषरहित प्रवृत्ति से, प्राणवध न होने पर भी वह होती है। जो रागद्वेष की प्रवृत्ति करता है वह अपनी आत्मा का ही घात करता है फिर चाहे दूसरे जीवों का घात करे या न करे। हिंसा से विरत न होना भी हिंसा है और हिंसा में परिणत होना भी हिंसा है। इसलिए जहाँ रागद्वेष की प्रवृत्ति है वहाँ निरंतर प्राणवध होता है। भगवान महावीर के नाम पर प्रायः दो नारे लगाए जाते हैं जियो और जीने दो तथा अहिंसा परमो धर्मः की जय। विश्वास कीजिए अहिंसा परमो धर्मः का सर्वप्रथम उल्लेख जैन धर्म के शास्त्रों में नहीं अपितु महाभारत के अनुशासन पर्व की गाथा ११५-२३ में मिलता है। जी हाँ सत्य यही है

अहिंसापरमोधर्मः,अहिंसापरमोतपः । अहिंसापरमोसत्यंयतोधर्मःप्रवर्तते । अहिंसापरमोधर्मः, अहिंसापरमोदमःअहिंसापरमदानं,अहिंसापरमतपःअहिंसापरमयज्ञःअहिंसापरमोफलम् ।

अहिंसापरमंमित्रःअहिंसापरमंसुखम्॥ [1]

महाभारत/अनुशासन पर्व (११५-२३/११६-२८-२९)

अहिंसा परम धर्म है। अहिंसा ही परम तप है। अहिंसा ही परम सत्य है और अहिंसा ही धर्म का प्रवर्तन करने वाली है। यही संयम है, यही दान है, परम ज्ञान है और यही दान का फल है। जीवन के लिए अहिंसा से बढ़कर हितकारी, मित्र और सुख देने वाला दूसरा कोई नहीं है।

जैन धर्म में समता सर्वभूतदया संयम जैसे अनेक शब्द अहिंसा आचरण के लिए प्रयुक्त हैं। वास्तव में जहां भी राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति दिखलाई पड़ेगी वहां हिंसा किसी न किसी रूप में उपस्थित हो जाएगी। संदेह अविश्वास विरोध क्रूरता और घृणा का परिहार प्रेम उदारता और सहानुभूति के बिना संभव नहीं है। प्रकृति और मानव दोनों की क्रूरताओं का निराकरण संयम द्वारा ही संभव है। इसी कारण जैनाचार्यों ने तीर्थ का विवेचन करते हुए कषायरहित निर्मल संयम की प्रवृत्ति को ही धर्म कहा है। यह संयमरूप अहिंसाधर्म वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में समता और शांति स्थापित कर सकता है। इस धर्म का आचरण करने पर स्वार्थ, विद्वेष, संदेह और अविश्वास को कहीं भी स्थान नहीं है। व्यक्ति और समाज के संबंधों का परिष्कार भी संयम या अहिंसक प्रवृत्तियों द्वारा ही संभव है। कुंदकुंद स्वामी ने बताया है। जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णामं। /तं तित्थं जिणमग्गे हवेई जदि संतिभावेण।। [2]। आगम ग्रंथों में कहा गया है कि राग-द्वेष का अभावरूप समताचरण ही व्यक्ति और समूह के मूल्यों को सुस्थिर रख सकता है। आत्मोत्थान के लिए यह जितना आवश्यक है, उतना ही जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए भी। वर्गभेद, जातिभेद आदि विभिन्न विषमताओं में समत्व और

[1] महाभारत/अनुशासन पर्व (११५-२३/११६-२८-२९)

[2] बो०पा०गा० 27

शांति का समाधान समता या समताचार ही है। मानवीय मूल्यों में जीवन को नियंत्रित और नीतियुक्त बनाए रखने की क्षमता एकमात्र समता युक्त अहिंसा आचरण में ही है। युद्ध, विद्वेष और शत्रुता से मानव समाज की रक्षा करने के लिए हेतु विधायक शब्द का प्रयोग करें तो वह समाचार कुटुंब, समाज, शिक्षा, व्यापार, शासन, संगठन प्रभृति में मर्यादा और नियमों की प्रतिष्ठा करता है, मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है और प्राणी जगत् में सुख-कल्याण का प्रादुर्भाव करता है। मूलाचार ग्रंथ में समताचार की महत्ता को बतलाते हुए लिखा है-समदा समाचारो सम्माचारो समो वा आचारो। /सव्वेसिं हिसमाणं सामाचारो दु आचारो।। (गा० 123)।

अहिंसा की मूलभावना प्राणिमात्र को जीने का अधिकार प्रदान करती है। इसलिए आचारांग सूत्र में कहा है-सब जीव संसार में जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। हेमचंद्र के अनुसार एक गंदगी के कीड़े और स्वर्ग के अधिपति-इंद्र दोनों के हृदय में जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय समान है। अतः सबको अपना जीवन प्यारा है। इसीलिए कहा गया है कि सोते-उठते, चलते-फिरते तथा छोटे-बड़े प्रत्येक कार्य को करते हुए यह भावना हर व्यक्ति की होनी चाहिए कि जब मेरी आत्मा सुख चाहती है तो दूसरों को भी सुख भोगने का अधिकार है। जब मुझे दुख प्यारा नहीं है तो संसार के अन्य जीवों को कहां से प्यारा होगा? अतः स्वानुभूति के आधार पर हिंसात्मक प्रवृत्तियों से हमेशा बचकर रहना चाहिए।

जैन आचार्यों ने अहिंसा क्या है, इस प्रश्न को बड़ी सूक्ष्म और सरल विधि से समझाया है। सर्वप्रथम उन्होंने हिंसा का स्वरूप निर्धारित किया। तदुपरांत उससे विरत होने की क्रिया को अहिंसा का नाम दिया। बात ठीक भी है, जब तक हम वस्तु के स्वरूप को न समझ लें, उससे संभावित हानि-लाभ से अवगत न हो जाएं तब तक उसे छोड़ने का प्रश्न ही कहां उठता है। हिंसा का सर्वांगपूर्ण लक्षण अमृतचंद्राचार्य के इस कथन में निहित है-कषाय के वशीभूत होकर द्रव्यरूप

या भावरूप प्राणों का घात करना हिंसा है। यह लक्षण समंतभद्राचार्य द्वारा प्रणीत अहिंसाणुव्रत के लक्षण जैसा ही परिपूर्ण है। सर्वार्थसिद्धि एवं तत्वार्थ-राजवार्तिक में इसी का समर्थन किया गया है। अहिंसा और हिंसा का जैसा वर्णन पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में है वैसा पूर्व या उत्तर के ग्रंथों में नहीं मिलता है। हिंसा के लक्षण में मन की दुष्प्रवृत्ति पर अधिक जोर दिया गया है क्योंकि अंतस् की कलुषता ही हिंसा को जन्म देती है। इसी बात को आचार्य उमास्वामी ने इस कथन से स्पष्ट किया है-प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। प्रमादवश प्राणों के घात करने को हिंसा कहते हैं। पं० आशाधरजी ने हिंसा की व्याख्या और सरल शब्दों मेंकी है। उनका कथन है-संकल्पपूर्वक व्यक्ति को हिंसात्मक कार्य नहीं करना चाहिए। उन सब कार्यों व साधनों को, जिनसे शरीर द्वारा हिंसा, हिंसा की प्रेरणा व अनुमोदन संभव हो, यत्नपूर्वक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। यदि वह गृहस्थ जीवन में उन कार्यों को नहीं छोड़ सकता तो उसे प्रत्येक कार्य को करते समय सतर्क और सावधान करना चाहिए। देवता, अतिथि, मंत्र, औषधि आदि के निमित्त तथा अंधविश्वास और धर्म के नाम पर संकल्पपूर्वक प्राणियों का घात नहीं करना चाहिए क्योंकि अयत्नाचार पूर्वक की गई क्रिया में जीव मरे या न मरे हिंसा हो ही जाती है। जबकि यत्नाचार से कार्य कर रहे व्यक्ति को प्राणिवध हो जाने पर भी हिंसक नहीं कहा जाता। वस्तुतः हिंसा करने और हिंसा हो जाने में बहुत अंतर है। निष्कर्ष यह कि संकल्प-पूर्वक किया गया प्राणियों का घात हिंसा है, और उनकी रक्षा एवं बचाव करना अहिंसा। जैनधर्म में अहिंसा को व्रत माना गया है। वस्तुतः, हिंसात्मक कार्यों से विरत होने में कठिनता का अनुभव होने से ही अहिंसा को व्रत कह दिया गया है, अन्यथा करुणा, अहिंसा तो दैनिक कार्यों एवं सुखी-जीवन का एक आवश्यक अंग है। यह मानव की स्वाभाविक परिणति है। उसे व्रत मानकर चलना उससे दूर होना है। अहिंसा तो भावों की शक्ति है। आत्मा की निर्मलता एवं अज्ञान का विनाश है। हिंसा की निवृत्ति और अहिंसा के प्रसार के लिए जैन धर्म में गृहस्थों के अनेक व्रत-नियमों को पालन करने का उपदेश दिया गया है। प्रत्येक कार्य को

सावधानी पूर्वक करने एवं प्रत्येक वस्तु को देख-शोधकर उपयोग में लाने का विधान गृहस्थ के लिए मात्र धार्मिक ही नहीं व्यावहारिक भी है। जीवों के घात के भय से जैन गृहस्थ अनेक व्यर्थ की क्रियाओं से मुक्ति पा जाता है। प्रत्येक वस्तु को देखभालकर काम में लाने की आदत डालने से मनुष्य हिंसा से ही नहीं बचता, किंतु वह बहुत-सी मुसीबतों से बच जाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने अनर्थदंडव्रतों का विधान किया है। रात्रिभोजन त्याग का विधान भी इसी प्रसंग में है। इस अवलोकन से स्पष्ट है कि जैन धर्म की अहिंसा मात्र धार्मिक न होकर व्यावहारिक भी है। जैन साहित्य व धर्म में अहिंसा के विविध रूपों के साथ एक बात भी देखने को मिलती है कि अहिंसा का मूल स्रोत खान-पान की शुद्धि की ओर अधिक प्रभावित हुआ है। हिंसा से बचने के लिए खान-पान में संयम रखने को अधिक प्रेरित किया गया है उतना राग, द्वेष, काम, क्रोध. (जो भावहिंसा के ही रूपांतर हैं) के विषय में नहीं। इसके मूल में शायद यही भावना रही हो कि यदि व्यक्ति का आचार-व्यवहार स्वच्छ और संयत होगा तो उसकी आत्मा एवं भावना पवित्र रहेगी। किंतु ऐसा हुआ बहुत कम मात्रा में है। आज अहिंसा के पुजारियों जैनों के खान-पान में जितनी शुद्धि दिखाई देती है मन में उतनी पवित्रता और व्यवहार में वैसी अहिंसा के दर्शन नहीं होते। अतः यदि व्यक्ति का अंतस् पवित्र हो, सरल हो तो उसके व्यवहार व खान-पान में पवित्रता स्वयं अपने-आप आ जाएगी। जिसका अंतर प्रकाशित हो, उसके बाहर अंधेरा टिकेगा कैसे?अहिंसा के अतिचारों में जो पशुओं के छेदन और ताड़न की बात कही गई है, वह नया तथ्य उपस्थित करती है। वह यह कि, जैनाचार्यों का हृदय मूक पशुओं की वेदना से अधिक अनुप्राणित था। यदि ऐसा न होता तो वे अहिंसा के अतिचारों में खान-पान की त्रुटियों को गिना देते, जबकि उन्होंने प्राणीमात्र के कल्याण की बात कही है। यही भावना आगे चलकर वैदिक यज्ञों की हिंसा का विरोध करती है। प्राणीमात्र को अभय प्रदान करती है। उत्तराध्ययन सूत्र में उद्घोष किया गया है यदि सचमुच तुम निर्भय रहना चाहते हो, तो दूसरों को तुम भी अभय देने वाले बनो निर्भय

बनाओ। इस अनित्य नश्वर संसार में चार दिन की जिंदगी पाकर क्यों हिंसा में डूबे हो? यह उसी का प्रतिफल है कि वैदिक युग के कर्मकांडों और आज के हिंदू धर्म अनुष्ठानों में जमीन आसमान का अंतर आ गया है। भारतीय समाज के विकास में अहिंसा का यह कम योगदान नहीं है।

जैन कथाओं में अहिंसात्मक प्रयोग इस देश की आचार-संहिता अहिंसा की नींव पर ही विकसित हुई है। अहिंसा को ही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म कहा गया है। अहिंसा का क्षेत्र व्यापक है। किसी भी प्राणी के अधिकार का हनन न हो, उसको परिताप न किया जाए, सही अहिंसा का स्वरूप है। इस अहिंसा को जीवन में उतार लिया जाए, यही ज्ञानी होने का सार है। जैनाचार्यों का कथन है कि उन सब कार्यों को, साधनों को, विचारों को व्यक्ति यत्नपूर्वक त्याग दे, जिनसे हिंसा की प्रेरणा व अनुमोदन संभव हो। देवता, अतिथि, मंत्र, औषधि, व्यापार आदि के निमित्त तथा अंधविश्वास और धर्म के नाम पर संकल्पपूर्वक प्राणियों का घात नहीं करना चाहिए। स्व एवं पर के प्राणों की सुरक्षा के प्रति सावधानी रखने का प्रयत्न करना ही अहिंसा है। इस प्रकार अहिंसा जितना आत्मधर्म है, उतना ही वह विश्व धर्म है। जैन कथा साहित्य में अहिंसा का व्यावहारिक रूप प्रकट हुआ है। तीर्थंकर नेमिनाथ की प्राणियों के प्रति अनुकंपा इतिहास प्रसिद्ध है। उनके जीवन की कथा तो मात्र इतना ही कहती है कि पशुओं के बाड़े को देखकर उनके अकारण वध की सूचना से उन्होंने तपस्वी-जीवन धारण कर लिया। किंतु नेमिनाथ के जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन अचानक और अकारण नहीं हुआ था। इस घटना के द्वारा कृष्ण उन्हें कुछ सिखाना चाहते थे, किंतु नेमिनाथ अपने अहिंसक चिंतन के द्वारा सारे जगत् को ही इस घटना द्वारा बहुत कुछ सिखा गए। जन-जन के अंतर-मानस में प्राणियों की पीड़ा की अनुभूति इतनी तीव्रता के साथ शायद पहली बार ही अनुभव की गई होगी। मांसाहार के विरोध में नेमिनाथ का यह एक सफल अहिंसक प्रयोग था और, संभवतः, उसका ही यह प्रभाव था कि नेमिनाथ के

समय में साधुओं का जब चातुर्मास होता था, तो वासुदेव श्री कृष्ण ने चातुर्मास में राज्य-सभा के आयोजनों को बंद करा दिया था, ताकि आवागमन, भीड़-भाड़ आदि के कारण प्राणियों की अधिकतम हिंसा से बचा जा सके। पार्श्वनाथ का जीवन अहिंसा का जीता-जागता उदाहरण है। उन्होंने अपने पूर्व-जन्म और तपस्वी जीवन में क्षमा की साकार मूर्ति को उपस्थित किया था। वध, क्रोध, वैर, बदला आदि अनेक हिंसा के कार्यों का सामना उन्होंने अहिंसात्मक साधनों से किया। तपस्वी कमठ द्वारा प्रज्वलित पंचाग्नि में जल रहे नाग की रक्षा उन्होंने अपने कुमार-जीवन में ही की थी। यह एक ऐसा प्रतीक है, जो अहिंसा के सूक्ष्म भावों को व्यक्त करता है। यदि नेमिनाथ ने जंगल के तृण खाने वाले मूक प्राणियों को हिंसा से बचाया था, तो पार्श्वनाथ ने एक कदम आगे बढ़कर विषैले नाग की रक्षा भी अहिंसक दृष्टि से आवश्यक मानी-क्योंकि प्राणी स्वभाव का कैसा भी हो, अकारण उसका वध करने का अधिकार किसी बड़े से बड़े और धार्मिक व्यक्ति को भी नहीं है। भगवान महावीर का जीवन-चरित अहिंसा के स्वरूप को और अधिक उजागर बनाता है। उन्होंने सर्प या संगम देवता द्वारा निर्मित विषधर नाग पर सहजता से और निर्भयता पूर्वक विजय प्राप्त कर, यह स्पष्ट कर दिया था कि शक्तिशाली व्यक्ति की भी हिंसात्मक वृत्ति टिकाउ नहीं, क्षणिक ही होती है। अहिंसक चित्त निरंतर विजयी रह सकता है। महावीर अहिंसा के विस्तार के लिए उसके मूलभूत कारणों तक पहुंचे हैं। उनके जीवन की हर घटना दूसरे के अस्तित्व की रक्षा करते हुए एवं उसके भी मन को न दुखाते हुए घटित होती है। संभवतः, परिग्रह, अनावश्यक संग्रह, दूसरे को पीड़ा पहुंचाने में सबसे बड़ा कारण है। इसीलिए भगवान महावीर ने पांचवें व्रत अपरिग्रह को एक नई दिशा प्रदान की। अनेकांतवाद द्वारा उन्होंने मानसिक हिंसा को भी तिरोहित करने का प्रयत्न किया और वीतरागता द्वारा वे आत्मिक अहिंसा के प्रतिष्ठापक बने। जैन कथा-साहित्य में संभवतः भरत-बाहुबली के जीवन-चरित से यह पहली बार पता चलता है कि युद्ध की भूमि में भी अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव हो सकता है। दोनों ओर की सेनाओं के हजारों प्राणियों के

वध के प्रति उत्पन्न करुणा इस कथा में साकार हो उठी है। दो राजाओं के व्यक्तिगत निपटारे के लिए लाखों व्यक्तियों के मरण के आंकड़ों से नहीं, अपितु व्यक्तिगत भावनाओं और शक्ति-परीक्षण से भी उनकी हार-जीत स्पष्ट हो सकती है। इस दृष्टि से दृष्टि-युद्ध, मल्ल-युद्ध और वाक्-युद्ध आदि का प्रस्ताव इस कथा में अहिंसा का प्रतीकात्मक घोषणा-पत्र है। नायाधम्मकहा की दो कथाएं अहिंसा के संबंध में बहुत महत्त्वपूर्ण एवं बोधपूर्ण हैं। मेघकुमार के पूर्वभव के जीवन के वर्णन-प्रसंग में मेरूप्रभ हाथी की कथा वर्णित है। यह हाथी भी आग से घिरे हुए जंगल में एकत्र छोटे-बड़े प्राणियों के बीच में खड़ा है। हर प्राणी सुरक्षित स्थान खोज रहा है। इस मेरूप्रभ हाथी ने जैसे ही खुजली के लिए अपना एक पैर उठाया कि उसके नीचे एक खरगोश का बच्चा खाली स्थान देखकर वहां आकर बैठ गया। हाथी खुजली मिटाकर अपना पैर नीचे रखना चाहता है, किंतु जब उसे पता चला कि एक छोटा प्राणी उसके पैर के सरंक्षण में आया है, तो उसकी रक्षा के लिए मेरूप्रभ हाथी अपना पैर उठाए ही रखता है। और अंततः तीन दिन-रात वैसे ही खड़े रहने पर वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, किंतु वह उस छोटे से प्राणी खरगोश तक धूप और आग की गर्मी नहीं पहुंचने देता। अहिंसा का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा? प्राकृत-कथाओं में अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए कई प्रयोग किए गए हैं। मानव के जीवन में अहिंसा के महत्त्व की इतनी भावना थी कि व्यक्ति यह प्रयत्न करता था कि यथासंभव हिंसा का निषेध किया जाए। सूत्रकृतांगसूत्र में आर्द्र कुमार मुनि की कथा वर्णित है। उन्होंने हिंसा के मूल कारण मांसभक्षण का युक्तिपूर्वक निषेध किया है। आवश्यकचूर्णि में अरहमित्त श्रावक के पुत्र जिनदत्त की कथा है। वह एक बार भयंकर रोग से पीड़ित हो जाता है। वैद्य उसे औषधि के साथ मांस-भक्षण आवश्यक बताते हैं, किंतु वह अपने स्वास्थ्य के लिए अन्य प्राणियों के वध से प्राप्त होने वाले मांस का भक्षण करना स्वीकार नहीं करता है। वसुदेवहिंडी की एक कथा में चारुदत्त अपनी यात्रा के लिए

बकरे को मारकर उसकी खाल लेना पसंद नहीं करता, जबकि उसका मित्र उस दुर्गम प्रदेश में उसे आवश्यक बताता है।

जैन कथा साहित्य ने प्राणी-वध को रोकने एवं दूसरे को न सताने की भावना को दृढ़ करने के लिए एक कार्य यह भी किया है कि हिंसक कार्यों में लिप्त व्यक्तियों को जन्म-जन्मातंरों में मिलने वाले फल की सही तस्वीर खींची है। विपाकसूत्र की कथाएं बताती हैं कि अंडे के व्यापारी निम्नक, प्राणीवध करने वाले छणिक कसाई एवं सूरदत्त मच्छीमार को अपने हिंसक कार्यों के कारण कितनी यातनाएं सहनी पड़ी हैं। वृहत्कल्पभाष्यआदि ग्रंथों में हत्या करने वाले के लिए अनेक प्रकार की सजाएं दिए जाने का उल्लेख है। कर्म परिणाम एवं सजा की कठोरता ने भी हिंसक भावना को क्रमशः कम करने में मदद की है। एक हिंसा दूसरी हिंसा को जन्म देती है। अतः, इससे वैर की लंबी परंपरा विकसित हो जाती है। इस बात को कई प्राकृत-कथाओं में उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। प्राकृत की कुछ कथाएं अहिंसा के अभय तत्त्व को उजागर करती है। कितना ही भयंकर एवं क्रोधी हत्यारा क्यों न हो, उसकी यह स्थिति अधिक समय तक नहीं टिक सकती। उसके हृदय में भी किसी घटना विशेष के द्वारा परिवर्तन लाया जा सकता है। मोग्गरपाणि यक्ष से प्रभावित अर्जुन की कथा बहुत प्रसिद्ध है। वह अपनी पत्नी के अपमान का बदला देने के लिए प्रतिदिन छः पुरुष और एक स्त्री की हत्या करता था। उसके इस उत्पात के कारण लोगों का जीना मुश्किल हो गया था, किंतु अहिंसा और अभय के पुजारी सुदर्शन श्रावक ने अर्जुन मालाकार के हृदय को भी परिवर्तित कर उसे साधक बना दिया। हत्यारा अर्जुन क्षमा की मूर्ति बन गया।

अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा से बचना ही नहीं है, अपितु अहिंसा के अतिचारों से भी दूर रहना है। प्राकृत कथाओं में यह स्पष्ट उल्लेख है कि वध, बंधन, छेदन, अतिभारारोपण एवं दूसरे

प्राणी के खान-पान के निरोध की क्रियाएं भी हिंसा हैं। इनसे बचकर ही अहिंसा का पालन हो सकता है। कहारयणकोश में इनकी सुदंर कथाएं दी है। प्राणी-वध तो दुःख देने वाला है ही, किंतु यदि किसी को कष्ट पहुंचाने एवं किसी के वध करने की बात मन में भी उत्पन्न हो जाए अथवा किन्हीं प्रतीकों के द्वारा वध की क्रिया पूरी कर ली जाए, तो भी अनेक जन्मों तक उसके दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। कालक कसाई, 500 भैंसों का प्रति दिन वध करता था, इस क्रिया को रोकने के लिए उसे बंदी बनाकर रखा गया, किंतु वहां पर भी उसने अपने शरीर के मैल के 500 भैंसे बनाकर उनकी हत्या करने का संकल्प पूरा किया और उसके कारण उसे नरकों की यातना सहनी पड़ी। प्राकृत-कथाओं के उपर्युक्त कुछ प्रसंगों से स्पष्ट है कि अहिंसा किसी जाति या वर्ग-विशेष की बपौती नहीं है। जीवन के किसी भी स्तर और कोटि का व्यक्ति अहिंसा में विश्वास रख सकता है। यथा-शक्ति वह उसे अपने जीवन में उतार सकता है। पशु जगत भी अहिंसा, अनुकंपा, पर-पीड़ा आदि का अनुभव करता है। अतः उसका जीवन रक्षणीय है। ये कथाएं यह भी उजागर करती हैं कि हिंसा की परिणति दुःखदायी ही होती है। चाहे वह किसी भी स्तर या उद्देश्य से की जाए, किंतु हिंसक कार्यों में लिप्त व्यक्ति इतना दयनीय भी नहीं है कि उसे सुधारने का अवसर ही न मिले। वह किसी भी क्षण अपनी हिंसा की उर्जा को अहिंसा की ओर मोड़ सकता है। निर्भयता और प्रेम से उसे कोई प्रेरित करने वाला मिलना चाहिए। प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के विराट एवं व्यापक स्वरूप को साठ नामों से अभिहित किया गया है ये साठ नाम निम्न है-(1) निर्वाण (2) निर्वृत्ति (3) समाधि (4) शक्ति (5) कीर्ति (6) कांति (7) रति (8) विरति (9) श्रुतांङ्ग (10) तृप्ति (11) दया (12) विमुक्ति (13) क्षांति (14) सम्यक्त्वाराधना (15) महती (16) बोधि (17) बुद्धि (18) धृति (19) समृद्धि (20) ऋद्धि (21) वृद्धि (22) स्थिति (23) पुष्टि (24) नंदा (25) भद्रा (26) विशुद्धि (27) लब्धि (28) विशिष्ट दृष्टि (29) कल्याण (30) मंगल (31) प्रमोद (32) विभूति (33) रक्षा (34) सिद्धावास (35) अनास्रव (36) केवलि-स्थानम् (37) शिव (38)